

यशपाल के 'दिव्या उपन्यास में बौद्धकालीन परिवेश और संस्कृति का अध्ययन

संस्कृति मानव समाज द्वारा संचित नित-नवीन अनुभवों की उत्तरोत्तर संवर्धित पूँजी है। मनुष्य समाज में जन्म लेता है, समाज और उसकी परंपरा से सीखता है और पर्याप्त अनुभव प्राप्त करने के पश्चात् उस समाज के मूल्यों, मान्यताओं, कला, चिंतन में यथाशक्ति योगदान देकर अपनी सांस्कृतिक धरोहर में अभिवृद्धि करता है। शनैः शनैः संस्कृति का क्रमशः विकास होता है, वह संवर्धित होती है। इस प्रकार मनुष्य विरासत में प्राप्त संस्कृति का उत्कर्ष और परिष्कार करता है। चूंकि संस्कृति मनुष्य द्वारा पीढ़ी-दर-पीढ़ी किये गये प्रयत्नों की अर्जित पूँजी है अतः प्रत्येक समाज की संस्कृति में एक समान स्तर मिलना संभव नहीं है। एक से दूसरे समाज में गति करने पर सांस्कृतिक भिन्नता के विविध स्तर सहज ही देखे जा सकते हैं।

व्युत्पत्ति की दृष्टि से संस्कृति शब्द संस्कृत की 'कृ' धातु से बना है। 'सम्' उपसर्ग के साथ इ + कृ + ज् के योग से संस्कृति शब्द बना है, जिसका अर्थ है 'परिमार्जित अथवा परिष्कृत करना'। हिन्दी में संस्कृति शब्द अंग्रेजी के 'कल्चर' शब्द के पर्याय के रूप में प्रयुक्त होता है, जो cultivate (कल्टिवेट) शब्द से व्युत्पन्न है। इस प्रकार संस्कृति शब्द में संस्कार का भाव है जो व्यक्ति को समाज, उसके परिवेश से प्राप्त होता है और इसी संस्कार के बल पर परिष्कृत हुए लोगों से समाज बनता है जो उस समाज की संस्कृति की अस्मिता का कारण बनती है। [1] [भाषा, साहित्य और संस्कृति, विमलेश कान्ति वर्मा और मालती, पृष्ठ सं. 30] संस्कृति व्यक्ति के विचारों को बल प्रदान करती है, जीवन की जटिल अवस्थाओं में मार्गदर्शक का काम करती है। व्यक्ति जिस सांस्कृतिक परंपरा में जन्म पाकर विकसित होता है, उसी के प्रतीकों के द्वारा अपने आप को संप्रेषित करता है। वह प्रतीक ही है जिसके माध्यम से व्यक्ति वस्तुओं, विचारों और अभिव्यक्तियों पर अपने अर्थ और मूल्यों को आरोपित करता है, स्वयं को संप्रेषित करता है। इस प्रकार संस्कृति ही वह तत्व है

जो हमारी चेतना, हमारे विचार को समृद्ध, सुंदर विवेकशील और सर्जनशील बनाती है। भौतिक स्तर पर जीवन निर्वाह में उपयोगी ज्ञान एवं क्रिया-कलापों में खोए मनुष्य को इस स्थूल धरातल से उपर उठाने में संस्कृति एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है।

संस्कृति से समान अर्थ रखने वाला शब्द है सभ्यता। संस्कृति और सभ्यता के बीच की भेदक रेखा को सुलझाते हुए डॉ. देवराज ने संस्कृति को इस प्रकार परिभाषित किया है_ “सभ्यता से तात्पर्य उन आविष्कारों, उत्पादन के साधनों एवं सामाजिक राजनीतिक संस्थाओं से समझना चाहिए जिनके द्वारा मनुष्य की जीवन यात्रा सरल होती है एवं स्वतंत्रता का मार्ग प्रशस्त होता है। इसके विपरित संस्कृति का अर्थ चिंतन तथा कलात्मक सर्जन की वे क्रियाएँ समझना चाहिए, जो मानव व्यक्तित्व और जीवन के लिए साक्षात् उपयोगी न होते हुए उसे समृद्ध बनाती हैं। इस दृष्टि से हम विभिन्न शास्त्रों, दर्शन, आदि में होने वाले चिंतन, साहित्य, चित्रांकन आदि कलाओं एवं परहित साधन आदि नैतिक आदर्शों तथा व्यापारों को संस्कृति की संज्ञा देंगे।” [2][साहित्य समीक्षा और संस्कृतिबोध, डॉ. देवराज, पृष्ठ सं. 389] साहित्य सृजन में संस्कृति की महत्वपूर्ण पीठिका का समर्थन करते हुए डॉ. देवराज ने साहित्य समीक्षा और संस्कृतिबोध (1977) में संस्कृति को एक प्रतिमान के रूप में प्रस्तावित करते हुए अनिवार्य माना है, “प्रतिमान के रूप में संस्कृति को मैं उतना ही महत्व देता हूँ, जितना क्लासिकी विचारक, काव्य के प्राण तत्व के रूप में, रस को देते हैं।” [3][साहित्य समीक्षा और संस्कृतिबोध, डॉ. देवराज, पृष्ठ सं. 85]

आधुनिक हिन्दी उपन्यास साहित्य में यशपाल का नाम बड़े आदर के साथ लिया जाता है। उनके ‘दादा कामरेड’ , ‘पार्टी कामरेड’ , जैसे उपन्यास हिन्दी साहित्य में महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। ‘दिव्या’ और ‘अमिता’ भी उनके बहुचर्चित, बौद्धकालीन परिवेश की पृष्ठभूमि में निर्मित उपन्यास हैं। इस दृष्टि से, ‘दिव्या’ विशेष रूप से उल्लेखनीय उपन्यास है। यशपाल ने इस उपन्यास में बौद्धकालीन संस्कृति, समाज, कला और दर्शन की अविस्मरणीय गाथा को अभिव्यक्ति प्रदान की है। यशपाल की सृजन-कला का संस्पर्श पाकर तत्कालीन कला और संस्कृति पाठकों के

हृदय में अपनी जगह बना लेती है। उपन्यास के प्राक्कथन में ही यशपाल ने ऐतिहासिक परिवेश को यथार्थ के ताने-बाने में बुन कर कथ्य को प्रस्तुत करने की ओर इंगित किया है, “कला के अनुराग से काल्पनिक चित्र में ऐतिहासिक वातावरण के आधार पर यथार्थ का रंग देने का प्रयत्न किया है।”

[4] [दिव्या, यशपाल पृष्ठ सं. 11] जब हम किसी रचना में सांस्कृतिक पक्ष का अध्ययन करते हैं तब हमारा ध्यान प्रायः दो पहलू पर केन्द्रित होता है – एक संस्कृति का बाह्य पक्ष, जिसमें समाज के रीति-रीवाज, कला-नृत्य, मेले-उत्सव आदि का समावेश होता है तथा दूसरा वैचारिक पक्ष जो कथ्य की आत्मा के रूप में कृति को जीवंतता प्रदान करता है। यशपाल ने दिव्या में संस्कृति के दोनों पक्षों का आलेखन किया है। भारतीय सांस्कृतिक परंपरा में मेला-उत्सव, कला-कौशल की प्रतियोगिताएँ और शौर्य-प्रदर्शन जनता के बीच प्रचलित थे। व्यस्त जीवन में मनोरंजन प्राप्ति एवं प्रजा में समुह भावना के विकास हेतु ऐसे आयोजन किये जाते थे। ऐसे आयोजनों से एक तरफ राज्य अपने विशेष कार्यों को लोकतांत्रिक रीति से जनता के समक्ष प्रस्तुत करता था तो दूसरी तरफ जनता की सहभागिता के भी दर्शन होते थे। ‘दिव्या’ उपन्यास की शुरुआत चैत्री-पूर्णिमा के दिन सागल में आयोजित मधु-पर्व के उत्सव से होती है। “सागल के मनोहर और विशाल ताल पुष्करणी में जल और तर पर जन लहरें ले रहा था। सूर्यास्त में अभी एक पहर शेष था, परंतु जहाँ तक दृष्टि जाती, जन समूह उमड़ रहा था। उस बढ़ते हुए विस्तार में जन-उत्सव का मण्डप ऐसा लग रहा था जैसे वर्षा काल के बाद से दूर तक फैल गए नदी के जल में कोई छोटा सा द्वीप हो।” [5]

[दिव्या, यशपाल पृष्ठ सं. 13] इस उत्सव में तत्कालीन परिवेश के अनुसार शस्त्रधारी सैनिक कुलीन लोगों का रक्षण कर रहे हैं। उत्सव में विशिष्ट परिधान में सजी कुलनारियों के आकर्षक रूप का बड़ा ही लालित्यपूर्ण चित्रांकन किया गया है। वेदी के चौतरफ दीप-दंड प्रज्वलित है। वयोवृद्ध मिथोद्रश, महाप्रतापी, धार्मिक यवनराज मिलिन्द और मद्र सेनापति आसन ग्रहण करते हैं, सांस्कृतिक परंपरा के अनुसार मंगल वाद्य कर्णप्रिय नाद के साथ मंगलाचरण प्रस्तुत किया जाता है, चारण तुर्यनाद करते हुए कला की देवी राजनर्तकी मल्लिका के सभास्थल में प्रवेश की घोषणा करते हैं। “कला की अधिष्ठात्री, नगर श्री, राजनर्तकी देवी मल्लिका सभास्थल में पधार

रही है।” [6] [दिव्या, यशपाल पृष्ठ सं. 14] इस समग्र वर्णन को पढ़कर पाठक भारतीय संस्कृति के ऐतिहासिक चित्र-बिम्बों की मनोहर आभा से अभिभूत हुए बिना नहीं रह सकता। कला की अधिष्ठात्री मल्लिका का सम्मान मात्र मल्लिका का सम्मान नहीं है, यह कला का सम्मान है और आगे के कार्यक्रम में तक्षशिला और मगध से शस्त्र-शास्त्र की शिक्षा प्राप्त करके लौटे युवकों की प्रतियोगिता में शौर्य संपन्न ज्ञान के सुदृढ़ सांस्कृतिक उत्कर्ष का विधान है। कला की अधिष्ठात्री मल्लिका की शिष्या दिव्या ‘सरस्वती-पुत्री’ का सम्मान प्राप्त करती है और सर्वश्रेष्ठ खड्गधारी पृथुसेन को पुष्पों से बना मुकुट प्रदान करती है। सागल राज्य में सम्मान की इस सांस्कृतिक परंपरा के अनुसार श्रेष्ठ खड्गधारी ‘सरस्वती-पुत्री’ का सम्मान प्राप्त करनेवाली शिष्या की पालखी को कंधा देता है। इस सांस्कृतिक परंपरा के अनुसार पृथुसेन जब पालकी को कंधा देने अग्रसर होता है तब कुलीन वंश के युवक रूद्रधीर द्वारा उसे कंधा देने से रोक लिया जाता है। दास-पुत्र पृथुसेन जो अब नगर के अग्रणी महाश्रेष्ठी प्रेस्थ का पुत्र है, जीवन में प्रथम बार हुए वर्ग-भेद के कटु अनुभव से आवेश में आकर खड्ग निकाल कर अपने अधिकार हेतु लड़ने के लिए तैयार हो जाता है। यहाँ पर यशपाल ने तत्कालीन समाज में प्रचलित दास प्रथा को सूचित करते हुए ‘जन्म का अपराध’ पर प्रश्न उठाया है जिसमें रूढ़िवादी परंपरा के अवगुण पर तीक्ष्ण प्रहार करते हुए, दिव्या के धर्मस्थ के साथ वाद-विवाद में मनुष्य को मनुष्य की दृष्टि से देखने की हिमायत की है। धर्मस्थ देवशर्मा के न्यायालय का वर्णन करते हुए यशपाल ने दर्शन, कला और संस्कृति की त्रिवेणी से समृद्ध परिवेश को प्रस्तुत किया है। श्रुति-स्मृति, दर्शन, न्याय और तर्क पर गोष्ठी-सुख प्राप्त करती मनिषियों की सभा हमारी संस्कृति की समृद्धि की ओर संकेत करती है। यथा _ “बहुद्रष्टा, उदार, महापण्डित, धर्मस्थ का सम्पन्न प्रासाद.....विद्या और संस्कृति का श्रेष्ठ केन्द्र था। उस प्रासाद में श्रुति-स्मृति, दर्शन, न्याय और तर्क का मन्थन वर्णाश्रम नीति के पण्डितों, यवन दार्शनिकों और बौद्ध भिक्षुओं द्वारा मत-निर्णय और गोष्ठी-सुख के लिये भी निरंतर होता रहता है।” [7] [दिव्या, यशपाल पृष्ठ सं.23]

दिव्या, जो प्रपितामह धर्मस्थ देवशर्मा के सबसे निकट है, में ज्ञान, कला और संस्कृति का सुंदर समन्वय है। पृथुसेन के लिये न्याय की हिमायत करने वाली दिव्या के तर्कपूर्ण प्रश्न उसके धर्म और न्याय के क्षेत्र के ज्ञान की ओर इंगित करते हैं, जिसके उत्तर खोजने में न केवल धर्मस्थ, बल्कि सुधीर पाठक भी कठिनता का अनुभव हैं। नृत्य-कला की वह आराधिका है। भारतीय संस्कृति के निर्वाह के अनेक उदाहरण उपन्यास में बिखरे पड़े हैं। आतिथ्य सत्कार की तत्कालिन परंपरा का एक प्रसंग दृष्टव्य है – “दिव्या दासी के हाथों में रजत आधार पर ताम्बूल और अर्घ्य लेकर आस्थानागार में पहुँची..... दिव्या ने अभ्यागत के सम्मुख बद्ध कर नासिका तक उठाकर नमस्कार के साथ स्वागत किया, ‘आर्य, आस्यताम् ।..... अर्घ्य ग्रहण करें’ ।” [8][दिव्या, यशपाल पृष्ठ सं. 25] दिव्या और पृथुसेन की यह प्रत्यक्ष मुलाकात दोनों में प्रणय का बीजारोपण कर देती है। दिव्या पृथुसेन की भावात्मक स्मृतियों में खोयी रहती है। दोनों का प्रणय परिपक्वता की सीढियाँ चढ़ने लगता है, तभी केन्द्रस का आक्रमण होता है। पृथुसेन का रणभूमी गमन अनिवार्य बन जाता है। दिव्या विह्वल हो जाती है। उसे सांत्वना प्रदान करने वाले पृथुसेन के शब्दों में दार्शनिक विचारों का प्रभाव दिखाई देता है। पृथुसेन जीवन को क्षणिक मानता है, जिसे निर्भय होकर पूर्णतः जीने में ही जीवन की सार्थकता पाता है। “दिव्यो, मैं मृत्यु से भय नहीं मानता मृत्यु क्या है ? अस्मिता का अंत ! जिसका अस्तित्व नहीं, जिसे अनुभूति नहीं, वह भय भी अनुभव नहीं कर सकता। भय है जीवित रह कर पीड़ा और पराभाव सहने में, भय है जीवन भर की पीड़ा और पराभाव से। जीवन की सार्थकता अधिकार और सामर्थ्य में ही है।” [9] [दिव्या, यशपाल पृष्ठ सं. 50]

पृथुसेन के युद्ध में विजयी होकर लौटने पर समस्त सागल में उत्सव मनाया जाता है। राजपंथ सजाया गया है, जनता हर्षोल्लास में डूबी हुई है। भिक्षु यज्ञादि धार्मिक क्रियाओं में व्यस्त हैं। दैव की कृपा प्राप्त करने के लिए महाश्रेष्ठी प्रेस्थ भी एक विशाल यज्ञ का आयोजन कराता है। इस समस्त उत्सव के माहौल में बौद्धकालीन परिवेश के विविध सांस्कृतिक, धार्मिक चित्र पाठक के समक्ष तादृश्य हो उठे हैं। यथा – “महाश्रेष्ठी प्रेस्थ ने कृपा के लिए एक विराट यज्ञ द्वारा देवताओं

की तृष्टि की। एक सहस्र याज्ञिकों ने स्वस्तिवाचन द्वारा मंत्रोद्योपन किया। इसी प्रकार देवी जीयस के मन्दिर में भी उन्होंने बलि दी।” [10][दिव्या, यशपाल पृष्ठ सं. 77] दिव्या आर्य पृथुसेन के स्वास्थ्यहीनता के कारण उनसे मिलने के प्रयास में असफल रहती है। वह पृथुसेन की मधुर स्मृतियों में विचरण करती है तथा विवाह के मिथ्या स्वप्न देखा करती है, परंतु भाग्य ने उसके लिए दुष्कर मार्ग का विधान किया था। महाश्रेष्ठी प्रेस्थ पुत्र को सलाह देते हुए सिरो से विवाह करने हेतु पृथुसेन को बाध्य कर लेता है। प्रेस्थ के प्रभावशाली शब्दों का विरोध पृथुसेन के लिए असंभव-सा हो जाता है। प्रेस्थ के यह शब्द बौद्धकालीन परिवेश में पुरुष प्रधान समाज की विचारधारा से पाठकों को अवगत कराते हैं, “वत्स, यौवन के आरंभ में नारी के प्रति प्रबल आवेग होता है। पुत्र, आवेग एक वस्तु है, जीवन दूसरी। जीवन जल का पात्र है, आवेग उसमें एक बुदबुदा मात्र है। विवाह को जीवन में सामर्थ्य और सफलता का साधन बनाओं। सामर्थ्यवान, सफल मनुष्य अनेक स्त्रियाँ प्राप्त कर सकता है, परंतु सफलता के अवसर जीवन में अनेक नहीं आते।”[11][दिव्या, यशपाल पृष्ठ सं. 82-83] पृथुसेन पिता की बात का स्वीकार कर लेता है। उसका विवाह सिरो से हो जाता है। किंतु, यहाँ चाहे सिरो हो या दिव्या, बौद्धकालीन समाज में नारी की स्थिति एक समान ही है। वह पुरुष की भोग्या मात्र ही है। धन-बल और साम्राज्य की लड़ाई में हमेशा उसका शोषण ही हुआ है। तत्कालीन सामंतशाही शासन व्यवस्था की उपयोगितावादी दृष्टि ने उन्हें एक वस्तु के रूप में ही देखा है, सामर्थ्य और सफलता प्राप्त करने की एक सीढ़ी ही समझा है। दिव्या को प्राप्त कर लेने के आश्वासन मात्र से जो पृथुसेन आम्लात मुख समर में मृत्यु का आलिंगन करने चला गया था, उसी ने परिस्थितियाँ परिवर्तित होने पर गर्भवती दिव्या को दुःखद नर्क की ओर धकेल दिया। यह समस्या मात्र एक दिव्या की नहीं है, पर भारतीय पुरुष प्रधान समाज की शाश्वत समस्या है जिसका मार्मिक निरूपण इस उपन्यास में किया गया है। गर्भावस्था के लक्षण प्रकाश में आने पर तथा पृथुसेन द्वारा ठुकरा दिये जाने पर दिव्या सागल छोड़ने पर विवश हो जाती है। जो माधुर्य उसके लिये सुख और गर्व का कारण था, वही बाद में उसके लिए कलंक और अमार्जनीय अपराध का कारण बन जाता है।

राज-प्रासाद से विदा लेते ही दिव्या मातुल वृक की कुदृष्टि का शिकार बनती है। दिव्या का यह कथन समग्र पुरुष जाति को एक कठघरे में खड़ा करते हुए पुरुष को नारी शोषण का कारणभूत मानता है वहीं तत्कालीन परिवेश की भयानक तस्वीर भी प्रस्तुत करता है, “भय किससे नहीं है, माताल वृक से भय है ? पृथुसेन से भय नहीं किया था, क्या हुआ ? वृक से भय किस कारण ? नारी है क्या ?..... कठोर धीर रुद्रधीर, कोमल पृथुसेन, अभद्र मारिश और माताल वृक, नारी के लिए सब समान है। जो भोग्य बनने के लिए उत्पन्न हुई है, उसके लिये अन्यत्र शरण कहाँ ? उसे सब भोगेंगे ही।” [12][दिव्या, यशपाल पृष्ठ सं. 97] दिव्या की दयनीय स्थिति की चरम सीमा तब आती है जब पुरोहित चंद्रधर दारा (दिव्या) को पचास स्वर्ण-मुद्रा में खरीद कर अपने घर ले जाता है। जिस पुत्र की ममता वश उसने अपना विक्रय स्वीकार किया था, उसे स्तन-पान कराने में भी स्वयं को असमर्थ महसूस करती है। बुभुक्षा वश शाकुन के करुण क्रंदन से लाचार होकर वह करुणा, प्रेम और अहिंसा के लिए प्रसिद्ध बौद्ध धर्म की शरण में जाने हेतु अपने क्रेता मालिक के घर से भाग निकलती है। किंतु बौद्ध धर्म भी इस भाग्यहीन को शरण नहीं दे पाता। गणिका अम्बपाली को शरण देने वाला बौद्ध धर्म एक सामान्य पीड़ित स्त्री को शरण देने में नीति-निषेध अनुभव करता है। इस प्रकार यशपाल ने तत्कालीन समाज की परंपरा द्वारा, एक वेश्या को धार्मिक संस्थान की स्वीकृति और पीड़ित, प्रताड़ित नारी की अवहेलना दिखाकर बौद्धकालीन धार्मिक व्यवस्था की अमानवीय क्रूरता का चित्रण किया है। बौद्ध स्थविर द्वारा वेश्या को स्वतंत्र नारी कहकर स्वीकार करने पर दिव्या भी अपने शिशु के लिए स्वतंत्र होने की अर्थात् वेश्या बनने का कठिन निर्णय करती है। “अपनी संतान को पा सकने की स्वतंत्रता के लिए ही उसने दासत्व स्वीकार किया। अपना शरीर बेचकर उसने इच्छा को स्वतंत्र रखना चाहा, परंतु स्वतंत्रता मिली कहीं। कुल नारी के लिए स्वतंत्रता कहाँ ? केवल वेश्या स्वतंत्र है। मैं वेश्या बनूंगी।”

[13][दिव्या, यशपाल पृष्ठ सं.120]

दिव्या जिस बौद्ध धर्म की शरण में जाकर अपने मातृत्व, अपने स्त्रीत्व की रक्षा करना चाहती थी, उसी धर्म के जड़ नियमों ने उसे एक वेश्या के द्वार पर लाकर खड़ा कर दिया। अब यह प्रश्न सहज ही हमारे मन में उपस्थित होता है कि तत्कालीन सामाजिक परिवेश में दिव्या का प्रेम करना ही अपराध था ? या अपनी जाति-व्यवस्था से निम्न जाति के पृथुसेन का वरण करना अपराध था ? शायद यही कारण था जिसके रहते दिव्या को न केवल घर-परिवार से बल्कि समाज, देश और धर्म से भी निष्काषित होना पड़ा। धार्मिक क्रूरता की ओर इंगित करते हुए डॉ. गोपाल कृष्ण शर्मा ने लिखा है, “धर्म भी नारी के लिए कितना बर्बर और अमानवीय होता है। वह बौद्ध धर्म जो संसार भर में करुणा, प्रेम, अहिंसा और सेवा के लिए विख्यात है, दिव्या को शरण नहीं देता।” [14] [यशपाल का उपन्यास साहित्य, डॉ. गोपाल कृष्ण शर्मा, पृष्ठ सं. 64] धार्मिक और सामाजिक अवहेलना के मध्य अपने अंश और अस्तित्व की रक्षा का कोई मार्ग न पाकर दिव्या यमुना की जलधारा में ही आश्रय ढूँढती है, किन्तु यमुना भी इस अभागिन को उगल देती है। जिस संतान की रक्षा हेतु दिव्या ने दर-दर की ठोकरे खाई थी, जो उसके जीवन का एक मात्र अवलंब था उसे भी यमुना छीन लेती है। दिव्या से दारा बनी इस अबला का पुनः अंशुमाला के रूप में जन्म होता है जो दिव्या को शूरसेन प्रदेश की राजनर्तकी रत्नप्रभा के आश्रय में ले जाती है। समय रहते दिव्या के मन का शोक कुछ कम हो जाता है और दूसरी तरफ नृत्य-कला में प्रवीण अंशुमाला की कीर्ति चहुँ दिशाओं में प्रसरित होने लगती है। यशपाल ने भारतीय नृत्य-कला की चरम परिणति यहाँ दिखाई है। वहीं पहले से दुगुना धन प्राप्त करने वाली रत्नप्रभा आर्थिक रूप से पहले से अधिक संपन्न होने पर भी संताप का अनुभव करती है। समस्त धन-दौलत और शोहरत में उसे निरर्थकता का अनुभव होता है। कला की काष्‍ट-प्रतिमा में कैद रत्नप्रभा, अंशुमाला या मल्लिका – सभी बौद्धकालीन भोगवादी सामंतशाही व्यवस्था की सतायी हुई पीड़ित भोग्या नारियाँ हैं। रत्नप्रभा के मनोमंथन का एक उदाहरण दृष्टव्य है — “वे जीवन का लक्ष्य नहीं, केवल उपकरण मात्र है। उन्हें देखता ही कौन है ? ऐसे ही जैसे पिंजरा स्वर्ण का रहने पर भी महत्व कुछ पण्य की सारिका का ही होता है।” [15] [यशपाल का उपन्यास साहित्य, डॉ. गोपाल कृष्ण शर्मा, पृष्ठ सं. 128]

दिव्या धर्मस्थ के प्रासाद में रहते हुए जिस ज्ञान और दार्शनिक तर्क से वाद-विवाद करती थी, अब भाग्य और कर्मफल के समक्ष स्वयं में असमर्थता अनुभव करती है। स्थविर चीवुक अर्थात् बौद्ध धर्म के शब्दों को याद करते हुए सुख और दुःख के अन्यान्योश्रित होने की मान्यता को स्वीकार करती है तथा अनुभव करती है कि सुख की इच्छा से ही दुःख होता है। जब संसार ही दुःख से पूर्ण है तो वह उससे भागकर कहाँ जायेगी ? वहीं दूसरी तरफ मारिश पुनः उसे अपने अनंत सामर्थ्य के साथ जीवन में प्रवृत्त करने का सफल प्रयास करता है। दिव्या जिस कला को जीवन का लक्ष्य मानकर अपना संपूर्ण जीवन समर्पित कर चुकी है, उस कला को मारिश जीवन पूर्ती का साधन मात्र मानते हुए उसे समझाता है, “ कला !.....कला क्या है ? कला केवल उपकरण मात्र है, कला जीवन के लिए और उसकी पूर्ती में ही है। जीवन से विरक्ति और जीवन के साधन से अनुराग का क्या अर्थ ? भद्रे, नारी सृष्टि का साधन है। सृष्टि का, आदि शक्ति का क्षेत्र वह समाज और कुल का केन्द्र है। पुरुष उसके चारों ओर घूमता है, जैसे कोल्हू का बैल !” [16] [यशपाल का उपन्यास साहित्य, डॉ. गोपाल कृष्ण शर्मा, पृष्ठ सं. 146] जिस बौद्धकालीन परिवेश ने दिव्या को कला की काष्ठ-प्रतिमा, मनोरंजन और भोग-विलास का उरकरण मात्र बनाकर रख दिया था उसमें मारिश पुनः प्राण प्रतिष्ठा करके उसे एक स्त्री, पुरुष के समक्ष खड़ी रहनेवाली स्त्री का जीवन प्रदान करता है। मारिश के उपरोक्त कथन संसार में नारी की सार्थकता की घोषणा करते हैं जिसके होने से मनुष्य की समस्त सांस्कृतिक धरोहर छिन्न-भिन्न हो जायेगी। जिस सामाजिक रूढ़ियों ने, समस्त सांस्कृतिक रूढ़ियों ने एक द्विज कन्या को वेश्या बना दिया था, वही समाज उसे गणिका के रूप में जनभोग्य बनने पर वर्णाश्रम के अपमान को न सह सका।

रात्रि निवास हेतु नगर के बाहर की पंथशाला में आश्रय प्राप्त कर रही दिव्या के समक्ष आचार्य रुद्रधीर, आर्य पृथुसेन और मारिश अपने-अपने प्रस्ताव रखते हैं। आचार्य रुद्रधीर दिव्या को कुलमाता के आसान पर बैठाना चाहता है पर दिव्या पुरुष के प्रश्रय मात्र से प्राप्त कुलमाता के स्थान के बदले निरादृत वेश्या की भाँति स्वतंत्र और आत्मनिर्भर रहना चाहती है। रुद्रधीर के

आक्रमण के पश्चात भिक्षु बने आर्य पृथुसेन के निर्वाण मार्ग के प्रस्ताव को दिव्या यह कहकर अस्वीकृत कर देती है कि 'नारी का धर्म निर्वाण नहीं सृष्टि है।' अंततः मूर्तिकार, दार्शनिक मारिश नारीत्व की कामना में अपना पुरुषार्थ अर्पण करना चाहता है। वह नश्वर जीवन में संतोष की अनुभूति देना चाहता है। संतति की परंपरा के रूप में मानव को अमरता देने की कामना करता है, जो स्त्री और पुरुष में भेद की रेखा नहीं खींचती, बल्कि दोनों को संसार रूपी रथ को चलाने वाले दो पहियों के रूप में देखता है। यहाँ पर मारिश नारी से संबंधित आधुनिक दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व करता है। अंततः दिव्या यशपाल के प्रवक्ता आधुनिक विचार-बोध समर्थक मारिश का वरण कर नारी जीवन को सार्थक बनाती है।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि यशपाल ने 'दिव्या' उपन्यास में बौद्धकालीन परिवेश के अंतर्गत भारतीय संस्कृति का सुंदर चित्रण किया है। संस्कृति का बाह्य पहलू जिसमें उत्सव-मेले, शौर्य और कला की विभिन्न प्रतियोगिताएँ भारतीय संस्कृति का एक महत्वपूर्ण अंग रही हैं, का उपन्यास में निर्वाह करते हुए यशपाल ने 'दिव्या' का प्रारंभ किया है। यशपाल ने 'दिव्या' में नृत्य-कला-संगीत का न केवल चरमोत्कर्ष दिखाया है परंतु एक सजग रचनाकार के दायित्व का निर्वाह करते हुए कला-जीवी स्त्रियों की करुण स्थिति की भी अभिव्यक्ति की है। शौर्य प्रदर्शन की प्रतियोगिता में यशपाल ने हमारी संस्कृति के कलंक समान दासप्रथा और वर्णव्यवस्था की कुरीतियों का यथार्थ निरूपण किया है बल्कि सामंतवादी और आभिजात्यवादी व्यवस्था पर भी प्रहार किये हैं। उपन्यास के उत्तरार्ध में अपने बल पर पृथुसेन विदेशी आक्रांता केन्द्रस पर विजय प्राप्त कर सागल का मुख्य सेनापति और राज्य का अग्रणी बनता है जिसमें यशपाल ने जन्मगत वर्णव्यवस्था को तोड़कर कर्म के आधार पर व्यक्ति की महत्ता स्वीकृत की है। वहीं उपन्यास के अन्त में आभिजात्य वर्ग की ही तरह भोग-विलास में लिपटे पृथुसेन का भी राजनीति की कुटिल चालों द्वारा पराभाव दिखाकर शासन व्यवस्था की शिथिलता का यथार्थ आलेखन किया है। जिस भारतीय संस्कृति ने नारी को देवी कह कर महत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया था वही परिवर्तित काल

में दीन-हीन होकर, पुरुष की भोग्या मात्र बनकर रह जाती है। नारी के अस्तित्व की पहचान की समस्या का मार्मिक निरूपण भी यशपाल ने दिव्या के माध्यम से प्रस्तुत किया है। धार्मिक आस्था में विश्वास रखनेवाली जनता के समक्ष बौद्ध धर्म की क्रूरता का संकेत निश्चय ही पाठक वर्ग के समक्ष प्रश्न खड़ा कर देता है। धर्म और संस्कृति की आड में कुटिल राजनीति खेलने वाली सामंतशाही शासन व्यवस्था के यथार्थ का यशपाल ने कलात्मक ढंग से निरूपण किया है। कुल मिलाकर यशपाल ने कला, संगीत, न्याय, दर्शन और शौर्य जैसे भारतीय संस्कृति के मूल्यवान अंगों का सफलतापूर्वक निरूपण किया है वहीं दूसरी तरफ वर्ण-व्यवस्था, दास-प्रथा, धार्मिक रूढियाँ, नारी-स्वातंत्र्य की समस्या और राजनीति व शासन-व्यवस्था की अनैतिकता पर कुठाराघात करते हुए सांस्कृतिक चेतना की अभिव्यक्ति की है।